

## विवादों में घिरा व्यक्तित्व

पुष्पपाल सिंह

प्रसिद्ध साहित्यकार उपेन्द्रनाथ अशक का जन्म 14 दिसम्बर 1910 को पंजाब सूबे के जालंधर में हुआ था। वह यदि आज होते तो सौवें वर्ष में प्रवेश कर चुके होते। उनकी शताब्दी के अवसर पर वरिष्ठ आलोचक पुष्पपाल सिंह का यह आलेख।

उपेन्द्रनाथ अशक ने एकाधिक स्थानों पर अपने विषय में एक गर्वोक्तिपूर्ण कथन लगभग इस रूप में किया है कि उनके साहित्यिक योगदान का मूल्यांकन किये बिना हिन्दी साहित्य का कोई भी मुकम्मिल इतिहास नहीं लिखा जा सकता। यह कथन 'लगभग' नहीं अपितु 'पूर्ण सत्य' है किन्तु जब अशक की गर्वोक्तियां बहुत बढ़ चढ़ कर अपना महत्व स्थापित करने का बलात प्रयत्न करती हैं तो आवश्यकता अनुभव होने लगती है कि अशक के साहित्यिक प्रदेय का एक निष्पक्ष और सम्यक मूल्यांकन होना ही चाहिए। उनका एक ऐसा ही कथन उनकी 'आकाशचारी' कहानी से उद्धृत किया जा रहा है : "मैं तो अपने को संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार का अधिकारी मानता हूं। लेकिन जब एक बार मेरी पुस्तक का नाम आ गया तो फिर उसका न चुना जाना मेरी पराजय थी। यह ठीक है कि मेरे भय से चुनाव करने वालों ने शेष दो पुस्तकों को भी नकार दिया और कह दिया कि कोई भी पुस्तक पुरस्कार के योग्य न थी। पर क्या यह मेरा अपमान नहीं था? मैं, जो यह मानता हूं कि मेरा हर शब्द भाषा के सीने पर एक ऐसा अमिट गोदना है जो दिन प्रतिदिन एक नयी आभा से चमकता जायेगा, इस बात को कैसे स्वीकार कर लेता कि मेरी पुस्तक उस अकिंचन पुरस्कार के योग्य न समझी जाय। मैं, जो अपने आपको काव्य, कहानी और उपन्यास, साहित्य के सभी क्षेत्रों में युगप्रवर्तक समझता हूं, जिसने अपनी भाषा को इस योग्य बनाया है कि लोग उसमें फिर से 'साहित्य' रच सकें, नयी और गहरी बात कह सकें— उस कच्ची, अनगढ़, फूहड़ भाषा को, जिसने नयी आभा, नयी व्यंजना, नये अर्थ और नया परिष्कार दिया, कैसे यह सहन करता?" अशक का स्व मूल्यांकन का दर्प औरों को उनके समुचित मूल्यांकन का अवसर नहीं दे पाता। ऐसे कथनों को पढ़ते और एकाधिक बार उनके श्रीमुख से सुनते हुए मुझे यह अनुभव

होता रहा कि इतनी उम्र भोग चुका हमारा एक वरिष्ठ साहित्यकार दो बातें क्यों नहीं समझ पाता— एक, आज युग ‘बालचंद्र विज्जावई भाषा’ जैसे उद्घोषक कवियों, साहित्यकारों का युग नहीं रह गया है, दूसरे, साहित्य के मूल्यांकन में काल बड़ा क्रूर निर्णायक है। पुरस्कार, झूठी प्रशंसाएं, सद्आलोचना की बैसाखियां आदि बहुत दूर तक रचनाओं का साथ नहीं दे पाते हैं। श्रेष्ठ कृतित्व स्वयं अपना मान निर्धारित कर लेता है— उनके समकालीनों की प्रथम पांक्तेय हस्तियों ने कभी भी अपने शब्दों को काल और भाषा के सीने पर गोदने के रूप में प्रतिस्थापित कराने के लिए कोई दंद फंद नहीं किये। अशक भले ही अज्ञेय जैसी प्रतिभा को साहित्यकार न मानते रहे हों (उन्हें वह ‘पत्रकार’ ही मानते रहे) किन्तु इस सबसे क्या उनके महत्व पर कोई प्रभाव पड़ा। मैं बात अशक के साहित्यिक प्रदेय पर करना चाह रहा हूँ किन्तु बार बार उनका ‘व्यक्ति’ मेरे सामने क्यों आ खड़ा होता है? सो पहले क्यूँ न बात उनके व्यक्ति की ही बात कर ली जाय।

अशक जी से मेरी मुलाकात और टाकरा\*

अशक जी से प्रथम भेंट से पहले उनके बहुमुखी साहित्यिक व्यक्तित्व और विपुल साहित्य ने उनकी एक बहुत ऊंची प्रतिमा और उनके प्रति एक प्रणम्य भाव का श्रद्धा बोध मेरे भीतर जगा रखा था। प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन के बहुप्रचारित सर्वज्ञात ‘नीबू बेचने’ और ‘झाड़कलीनिंग बिल’ जैसे प्रसंग भी इस प्रतिमा की आभा को धूमिल नहीं कर पाये थे। 1988 ई. में वे पंजाब, हरियाणा, हिमाचल आदि के दौरे पर लम्बे समय तक इधर रहे, और एक दिन भाषा विभाग, पंजाब (पटियाला) के तत्कालीन निदेशक का फोन आया कि अशक जी अपने सम्मान कार्यक्रम से दो दिन पहले पटियाला आ गये हैं तो यार तुम अपनी संस्था ‘सरोकार’ के द्वारा कल उनका स्वागत अभिनंदन करा दो। संस्था पर विभाग का अधिकार इसलिए बनता था कि उसे दो हजार रुपये का वार्षिक सहायतानुदान उसकी ओर से मिला करता था। उन्हीं दिनों दो चार दिनों के आगे पीछे मेरा एक संक्षिप्त आलेख अशक जी की कविताओं पर ‘दैनिक ट्रिब्यून’ के रविवारीय में प्रकाशित हुआ था, इस शिकायत के साथ कि हिन्दी संसार में उनकी कविताओं का समुचित नोटिस नहीं लिया गया। अशक जी उस टिप्पणी से गद्गद् थे। मिलने पर उन्होंने कहा था— ‘यार। मैं तो शीर्षक से समझा था (शीर्षक कुछ ऐसा था— ‘अशक की कविता के बहाने...’) कि इसमें मेरी कविता की ऐसी तैसी हुई होगी किन्तु तुमने तो मेरी कविता पर बहुत अच्छा लिखा है— चाहता हूँ और विस्तार से लिखो।’ अगले दिन मैंने अपना पूरा जोर लगा कर उनका स्वागत कार्यक्रम रखा जिसका आयोजन स्टेट बैंक ऑफ पटियाला के अत्यंत भव्य ‘डायरेक्टर्स कान्फ्रेंस हॉल’ में था जिसकी भव्यता से अभिभूत होकर आते ही अशक जी ने मुझसे आहिस्ता से कहा, ‘तुमने प्रोग्राम बहुत शानदार जगह रखा है।’ अशक जी से मेरा इससे पूर्व कोई पत्राचार और व्यक्तिगत परिचय नहीं था। मैं गद्गद् था कि जिस साहित्यकार को मैं स्कूल कक्षाओं से अपनी पाठ्य पुस्तकों में पढ़ता आ रहा हूँ वह मेरे सामने है और मुझे उनके स्वागत का अवसर मिल रहा है। औपचारिक स्वागत शब्दों के बाद जैसे ही मैंने उनसे बोलने का निवेदन किया, वे बोले— ‘पुष्पपाल पहले इस लौण्डे— नीलाभ— की कविताएं सुनो, बहुत बढ़िया कविताएं लिखता है यह’। मैं नीलाभ से परिचित नहीं था, नाम अवश्य पढ़ा, सुना था। फलतः नीलाभ जी की कविताएं सुनी गयीं, उन्होंने बहुत अच्छी कविताएं पढ़ीं। बाद में अशक जी ने बहुत अच्छा भाषण दिया। इस कार्यक्रम की चर्चा इसलिए जरूरी थी कि दो दिन बाद पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला में पंजाबी और हिन्दी विभाग में उनका जो भाषण हुआ, वह ‘विवादों के घेरे’ के अशक के व्यक्तित्व को उजागर करता है। उस गोष्ठी में अशक जी ने अपने बड़बोलेपन में अपनी उसी दृढ़ प्रस्थापना का उल्लेख प्रायः इन शब्दों में मुक्त मन से किया— ‘हिन्दी

\*‘टाकरा’ पंजाबी का शब्द है इससे हल्की नोक झाँक का आशय है।

में, भारत में, मेरे साहित्य का ठीक मूल्यांकन हुआ ही नहीं है, मूल्यांकन जर्मनी में अमुक तमुक के द्वारा किया गया है।” यहां तक भी बात पाच्य बनी रही। आगे उन्होंने धड़ल्ले से कहा— ‘विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों में सब गधे भरे पड़े हैं’, ‘उन्हें एक वाक्य लिखना नहीं आता है’, ‘वे रिसर्च करा ही नहीं सकते।’ ‘दो कौड़ी के शोध प्रबंध मेरे ऊपर लिखे गये हैं’, ‘भारत में कोई मेरे साहित्य को समझ ही नहीं सकता।’ अधिकांश लोगों ने ‘बुजुर्ग’ की बात को हंस कर टाल दिया। मैं भी कुछ कहने की स्थिति में नहीं था, दो दिन पहले ही तो इतने पूज्य भाव से इनका अभिनंदन किया था। किन्तु हमारे विभाग में एक पर्याप्त चर्चित नाटककार (‘अनाटक’ के जनक) स्व. डॉ. चंद्रशेखर भी थे। उन्होंने वहीं ‘बूढ़े को सबक सिखाने’ की बात कही पर उन्हें तब किसी प्रकार रोक दिया गया किन्तु बाद में ‘हिन्दी ब्लिट्ज’ में उनके कई आलेख इस विषय पर प्रकाशित हुए और वे हमें भी लिखने के लिए उकसाते रहे कि जिस समय ये वाक्य अशक द्वारा कहे गये वहां पंजाब के कई हिन्दी साहित्यकार और अध्यापक बैठे हुए थे— पुष्पपाल सिंह, सुरेश सेठ आदि के नाम ले लेकर वे कहते रहे कि ये लोग क्यों चुप बैठे रहे। व्यक्तिगत रूप से भी वे बार बार हम लोगों से इस विषय पर ब्लिट्ज में लिखने का आग्रह करते रहे। उनकी और अशक जी की नॉकऑक ब्लिट्ज के कई अंकों में चलती रही। तब तो मैंने बात यह कह कर टाल दी, ‘यार अच्छी बातें लिखने के लिए हमारे पास समय नहीं रहता, इन फिजूल की बातों में क्यों पड़ें।’ किन्तु तीन चार महीनों बाद अशक जी ने वह अवसर उपस्थित कर ही दिया कि मुझे भी अपना मुंह अप्रिय रूप में खोलना पड़ा।

हुआ यूं कि पालमपुर (हि.प्र.) में डॉ. सुशील कुमार फुल्ल, सुदर्शन वशिष्ठ आदि ने हिमाचल प्रदेश भाषा और संस्कृति विभाग के सहयोग से अशक जी के सम्मान में एक गोष्ठी का आयोजन रख दिया, मैं भी निमंत्रित था। अशक जी दो तीन महीनों से (अवधि ठीक ठीक याद नहीं) पंजाब, हरियाण ॥, हिमाचल राज्यों में बतौर राजकीय अतिथि रमण कर रहे थे। हां, याद आया, हिमाचल सरकार ने उन्हें छः महीने का राजकीय आतिथ्य प्रदान किया था। इस अवधि में उनकी सेवा में एक हिन्दी टाइपिस्ट भी सरकारी तौर पर लगा दिया गया था। ‘बूढ़े के लिए’ (यही शब्द वहां के कर्मचारी दुखी भाव से उनके लिए प्रयुक्त करते थे) तरह तरह की व्यवस्थाओं में तंत्र उलझा रहता— कोई कर्मचारी दुःखी मन से बता रहा है कि ‘उसे रोज दोनों टाइम चिकन सूप चाहिए, भैया और चीजें उन्हें हजम नहीं हो पातीं’। बातचीत से यही लगता कि अगला उनसे काफी असंतुष्ट था। खैर, गोष्ठी हुई। रात को कवि सम्मेलन हुआ, उसमें भी कुछ बदमगजी स्थानीय कवियों के साथ हुई, ऐसा सुना गया था, मैं कवि गोष्ठी में गया नहीं था। अगले दिन भाषण कार्यक्रम था। अपनी बारी पर अशक जी ने वही तवा चढ़ा दिया— हिन्दी विभागों में, विश्वविद्यालयों में किसी को कुछ नहीं आता, सब गधे हैं, मेरे उपन्यासों को समझ नहीं सकते, उन्हें तो जर्मनी में समझा गया, आदि, इत्यादि। इसके बाद उन्हें समकालीन कहानी पर कुछ उचारना था— सो उन्होंने एक तरफ से सबको खारिज करना शुरू कर दिया — मृणाल पांडे को कहानी लिखना नहीं आता, सृजय बकवास लिख रहा है— हां, पंकज बिष्ट पर वे कृपालु रहे, उनके उपन्यास ‘उस चिड़िया का नाम’ की जम कर तारीफ की— शेष लोगों की तो वे धुनाई करते रहे। हां, एक और तोहमत वे पंजाब, हरियाणा और हिमाचल सरकारों पर लगाते रहे— अपना पूरा सम्मान न होने की शिकायत! उनके तत्काल बाद ही मुझसे बोलने के लिए कहा गया और तब तक मेरा पारा काफी ऊपर चढ़ चुका था जिसे चढ़ाने के कई कारण अब तक बन ही चुके थे। मैंने अशक जी की एक एक बात का उत्तर देने की चेष्टा (भरपूर आक्रोश में) की। समकालीन कथा का जो मूल्यांकन उन्होंने किया था, उसी के संदर्भ में मैंने कहा कि इतने वरिष्ठ साहित्यकार को इस प्रकार की फतवेबाजी करना शोभा नहीं देता। फिर मैंने सोदाहरण उन सब कहानीकारों की सशक्त कहानियों की चर्चा की जिन्हें उन्होंने खूब ‘धोया’ था। मैंने कहा कि क्या मृणाल पांडे की ‘एक थी हंसमुख रे’ तथा सृजय की ‘तख्तोताब’ जैसी कहानी अशक के पास है? ऐसे कई कथाकारों के उदाहरण

। मैंने इसी स्वर में दिये। फिर मैं इस बात पर आया कि जिन तीन प्रांतीय सरकारों को उन्होंने टोकरी भर भर गालियां दी हैं उन्होंने किस किस प्रकार उनका स्वागत सत्कार किया। पंजाब सरकार दूसरी तीसरी बार उन्हें (पंजाबी साहित्यकार होने के नाते) सम्मानित कर रही है, 'अशक जी, अगर आप मुझे आज्ञा दें तो बताऊं कि किस प्रकार हरियाणा राजभवन का आतिथ्य ग्रहण कर आपने राज्यपाल बर्नी से कितने लाख की पुस्तकों का आदेश अपने प्रकाशन के लिए प्राप्त किया है, हिमाचल सरकार के आप इतने शानदार पहाड़ी स्थान (पालमपुर) के विश्वविद्यालय के वी.आई.पी. गेस्ट हाउस में अलग कुक और टाइपिस्ट के साथ छः महीनों के लिए राजकीय अतिथि हैं— और क्या चाहते हैं आप इन सरकारी संस्थानों, सरकारों से।' इसके बाद मैंने अशक जी का एक और ही रूप देखा — 'पल में तोला, पल में माशा वाला'। पूर्ण विनम्रता से उन्होंने कहा, पुष्पपाल की सभी बातें ठीक हैं— "मैं सबके सामने नाक रगड़ कर अपने वक्तव्य के लिए माफी मांगता हूँ।" उनके इस वक्तव्य पर मेरा दिल भर आया— इतने बुजुर्ग से ऐसा सुनने की न मेरी अपेक्षा थी और न ही कोई विजयभाव मेरे मन में आया। मंच से उतर कर उन्होंने उसी बुजुर्गियत के प्यार से मेरा कंधा थपथपाया, फिर माफी के कुछ शब्द कहने लगे तो मैंने उनके पैरों की ओर हाथ किये। उन्होंने पंजाबी 'जप्फ्री' भर ली। शाम को उन्होंने मुझे अपने कमरे में बुलवा भेजा और बाहैसियत विश्वविद्यालय के एक हिन्दी अध्यापक से, जिसके वर्ग को वे सरेआम अपनी वाणी और कलम से धकियाते हुए कहते रहे कि इनसे एक वाक्य लिखना नहीं आता, एक व्यक्तिगत कार्य के लिए एक अनुशंसा पर हस्ताक्षर करवाये और कई विश्वविद्यालय के कई लोगों से इसी प्रस्ताव पर हस्ताक्षर करवाने का आग्रह करते रहे। इसके बाद भी हमारे बीच कई पत्रों का आदान प्रदान रहा। हमारे सम्बंध पूरी तरह सम पर आ गये थे। उन्हीं दिनों कभी 2.5.88 को उन्होंने मुझे अपनी पुस्तक 'विवादों के घेरे' 'स्नेह और शुभकामनाओं' के साथ दी थी जो आज भी जब तब उनकी स्मृति को ताजा रखती है। संयोग ही है कि आज इन पंक्तियों को लिखते हुए भी अशक जी का 'विवादों में घिरा' व्यक्तित्व मुखर रूप में सामने आ खड़ा होता है।

### विभिन्न विधाओं में उपस्थिति

पता नहीं क्यों हिन्दी के कितने ही साहित्यकारों को यह पीड़ा समय, असमय या कुसमय सालती रहती है कि उन्हें वह सम्मान और पुरस्कार प्राप्त नहीं हुए जिसके वे 'वास्तविक' अधिकारी थे। अशक जी को यह पीड़ा कुछ ज्यादा ही थी जिसे वे अपने लेखन में भी जब तब व्यक्त करते रहे— इस हद तक कि पाठक को एक वितृष्णा सी होने लगती। उदाहरणार्थ : "यदि कोई निष्पक्ष आलोचक खड़ी बोली के सारे हिन्दी काव्य पर न्यायपूर्वक दृष्टि डाले तो 'चांदनी रात और अजगर', 'बरगद की बेटी', 'दीप जलेगा' जैसे ओजभरे काव्य हिन्दी में नहीं— न पंत के यहां, न महादेवी के यहां, न अज्ञेय और शमशेर के यहां। निराला में वह ओज है या फिर कहीं कहीं मुक्तिबोध में। हिन्दी काव्य में गुटों का संचालन एक ओर पंत और दूसरी ओर अज्ञेय करते रहे हैं और हालांकि मेरे आठ काव्य संकलन छप चुके हैं, लेकिन कभी पंत या अज्ञेय ने कवि के नाते मेरा नाम तक नहीं लिया और न हिन्दी के भेड़ियाधसानी आलोचकों ने। लेकिन भवभूति अपने लिए नहीं मेरे जैसे किसी 'लोन वुल्फ' (अकेले भेड़िये) के लिए भी कह गये हैं कि काल की कोई अवधि नहीं और पृथ्वी विपुला है, कभी मेरा समानधर्मा पैदा होगा और मेरे काव्य को उसका उचित दाय देगा।"

यह बात अपनी जगह काफी हद तक सही है कि अशक की कविता बेहतर मूल्यांकन की अपेक्षा रखती है किन्तु वह ऐसी भी नहीं है कि 'न भूतो, न भविष्यति' की श्रेणी में आती हो। अशक की कविता के मूल्यांकन में एक अन्य साहित्यिक स्थिति बाधक बनी। साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि किसी रचनाकार का एक या एक से अधिक जो रूप चर्चित प्रतिष्ठित हो जाता है,

उसके कारण उसके दूसरे साहित्य रूपों को अपेक्षित चर्चा नहीं मिलती या वह पूर्णतः भी उपेक्षित रह जाता है — जयशंकर प्रसाद का निबंधकार, प्रेमचंद का नाटककार, अज्ञेय का निबंधकार, भीष्म साहनी के 'तमस' के सामने उनकी उससे बेहतर कृति 'मैय्यादास की माड़ी' का अपेक्षित महत्व प्राप्त न कर पाना, साहित्य के इतिहास की ऐसी ही कुछ घटनाएं हैं। रवीन्द्रनाथ त्यागी को ताजिन्दगी यह पीड़ा सालती रही कि हिन्दी में उनकी कविता को अपेक्षित महत्व प्राप्त नहीं हो पाया। वैयक्तिक प्रेम और सामाजिक संसक्ति, दोनों ही प्रकार की कविताएं अशक की कविताई का कायल करती हैं। अत्यंत टटके उपमान और बिम्ब जिस प्रकार पाठक को भावों की गहराई में डुबोते हैं, वह इन कविताओं की प्रभावान्विति का परिचय देता है। इलाहाबाद के संगम की स्थानीयता के ये बिम्ब प्रेम को सांद्र रूप में अभिव्यक्ति देते हैं—

तुम्हारी आंखों में उमड़ आयी  
 इन दो नदियों ने  
 मुझे ऐसे डुबो लिया है  
 जैसे गर्मियों की तपती दुपहरी में  
 मेरे नगर की नदियां  
 अपने संगम में मुझे डुबो लेती हैं।

प्रेम की विवश दशा और अनभिव्यक्त पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिए इलाहाबाद के संगम में अदृश्य तीसरी नदी सरस्वती का उपमान प्रेम को इस प्रभावी रूप में अभिव्यक्ति देता है—

जो कभी दिखायी नहीं देती, वह व्यथा है—  
 जो दिल-ब-दिल बहती है,  
 और चेहरों पर जिसका कोई आभास नहीं मिलता।  
 तुम्हारी इन डबडबायी आंखों की उसी तीसरी नदी ने  
 मुझको डुबो लिया है।

'नार्सिस का उपदेश अपने बेटे को' कविता में यूनानी मिथक के परिप्रेक्ष्य में पुरु और नहुष के भारतीय मिथक की विद्रूपता को बड़े प्रभावी रूप में अंकित किया गया है। इसी प्रकार 'अकाल' पर लिखी उनकी कविताओं में व्यक्ति की दुर्दशा पर भी राजनीति करते नेताओं का चरित्र पूरे आक्रोश में 'भौत अब प्रायः निर्लज्ज रहने लगी है/वहीं नहीं/यहां भी नाच रही है' जैसी पंक्तियों में उधाड़ा गया है।

'दोनों दरवाजों के बीच' शीर्षक उनकी लम्बी कविता साम्प्रदायिकता के खिलाफ लिखी उनकी ऐसी कविता है जिसकी आज भी उतनी ही प्रासंगिकता है, लगता है कवि बाबरी मस्जिद प्रकरण और गुजरात नरसंहार से विचलित हो इन पंक्तियों का सृजन कर रहा है—

मैं आदमजाद नंगा भागता चला गया  
 बाजार के दोनों दरवाजों के बीच।  
 जिन्दगी की जरूरतों का मारा कोई सद्गृहस्थ  
 हिंस्र पशुओं के जंगल में जैसे कोई डरा हुआ खरगोश—  
 नाप नाप कर कदम बढ़ाता हुआ  
 अपने ही साये से भयभीत—  
 कि जाने कब कोई तेज छुरा  
 उसकी आंखों को सड़क पर बिखेर दे  
 और एक नन्हा सूरज  
 अपनी लाली से कोलतार सी काली सड़क को  
 रंगता हुआ  
 हमेशा हमेशा के लिए डूब जाय।

आये दिन होने वाले साम्प्रदायिक दंगों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही जिस रूप में मानवता की हत्या कर नृशंसता का तांडव करते हैं, उसकी खबर लेता कवि कबीरी अंदाज में दोनों वर्गों के फिरकापरस्तों को लताड़ता है—

वे लोग कितने पशेमा थे  
कि उनसे एक मोमिन की हत्या हो गयी  
जबकि उन्होंने एक काफिर ही को मारा था  
वे बेकार ही खुदा से अपने गुनाह बख्शवा रहे थे  
उसने तो उन्हें तभी बख्शा दिया था  
जब उन्होंने टुकड़े टुकड़े करके  
उसे अपने नेजों पर टांग लिया था।

‘जन संकुल वीराने में’, ‘बकरोटे की ढलान पर’, ‘विशाखापट्टम के सागर तट पर’, ‘अप्रैल की चांदनी’, ‘शाम के झुरपुटे में’, ‘चिन्ता की चिता’ जैसी विषयवस्तु से समृद्ध कविताएं और ‘तीन प्याले’, ‘यह कैसा प्रदेश है’, ‘अशक बहुत श्रम करता है’ शैल्पिक प्रयोगों की कविताएं अशक के कवि का लोहा मनवाने के लिए पर्याप्त हैं।

अशक ने गद्य लेखन भी प्रभूत मात्रा में किया, बहुत सी विधाओं में, विधाओं की नयी नयी शैलियों में। उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, संस्मरण, आत्मकथ्य, यात्रा विवरण, पत्र, डायरी, विविध प्रकार के निबंध, आलेख आदि के रूप में उन्होंने कदाचित् 8 - 10 हजार पृष्ठों की गद्य सामग्री से हिन्दी को समृद्ध किया। इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचंद, जैनेन्द्र के बाद उनका गद्य एक नयी तराश और अपनी विशिष्ट धज लेकर आता है। अशक की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें एक जीवनगंधी संस्कार है जिससे पाठक एक निकट सम्बंध का अनुभव करता है, कथ्य से अपना तादात्म्य सहज ही स्थापित कर लेता है। इस भाषा में उर्दू तथा पंजाबी की रंगत उसे एक नयी धजा देती है।

अशक का चर्चित दाय नाटक और एकांकी के क्षेत्र में है — उन्होंने चौदह बड़े नाटक और पचास से ऊपर एकांकी लिखे। अशक जिस समय नाट्य लेखन और एकांकी के क्षेत्र में आये, उस समय एक प्रकार से मैदान खाली होने जैसी स्थिति थी, अशक ने अपने एकांकियों से इस खालीपन को भरा। रेडियो, स्कूल कॉलेजों में मंचन के लिए एकांकियों की आवश्यकता थी, पाठ्यक्रमों के लिए भी छोटे नाटक चाहिए थे— अशक के नाटक, एकांकी इस कमी को पूरा करते थे। रंगमंचीय सफलता उनके नाट्य लेखन का मुख्य गुण है। मध्यवर्गीय समाज की विभिन्न समस्याओं का चित्रण करने वाले उनके नाटकों, एकांकियों को पर्याप्त लोकप्रियता भी मिली। आज भी किसी स्कूल कॉलेज या विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में नाटक, एकांकी के पत्र में निर्धारित पुस्तकों में अशक को उपस्थिति अपरिहार्य है। किन्तु यह प्रश्न मेरे मन में उठता है कि उनके नाटक और एकांकी आधुनिक संवेदन के अनुकूल बैठते हैं? क्या आज भी वे वैसा ही रसोद्रेक उत्पन्न कर पाने में सक्षम हैं? इसके बावजूद यह भी एक सच है कि अशक के बिना हिन्दी नाटक का इतिहास अधूरा ही रह जायेगा। कमोवेश यही बात उनके उपन्यासों के विषय में कही जा सकती है। ‘गिरती दीवारों’ से प्रारम्भ कर अपने पंचखंडीय वृहद् उपन्यास के रूप में ‘शहर में घूमता आईना’, ‘एक नहीं किन्दील’ तथा ‘बांधों न नाव इस ठांव’ (दो खंड) तथा ‘गर्म राख’ जैसे उपन्यासों से उन्होंने लगभग पांच हजार पृष्ठों से भी ऊपर की सामग्री से हिन्दी के भंडार को भरा। मध्यवर्गीय युवक चेतन के संघर्ष की कथा को जितने विस्तार में जाकर अशक चित्रित करते हैं, उसको पढ़ने का साहस (कम से कम आज तो) पाठक में नहीं है। हां, जिस रूप में उन्होंने उसके परिवार, परिवेश और तत्कालीन समाज का चित्रण किया है, वह उसकी सांस और धड़कन से निकट का परिचय कराता है। इन उपन्यासों की सबसे बड़ी उपलब्धि तत्कालीन पंजाब की सामाजिक संरचना, रीतियों, नीतियों, कुरीतियों, सद्रीतियों का प्रामाणिक और सूक्ष्म अंकन है— एक

प्रकार से चेतन के माध्यम से यह उस समाज का समाजशास्त्रीय अध्ययन है। 'शहर में घूमता आईना' में सामाजिक संरचना का यह चित्र जालंधर के मुहल्ले को उसकी पूरी जीवंतता में प्रस्तुत कर देता है : "जालंधर के कुल्लोवानी मुहल्ले में न जाने कब से क्षत्री ब्राह्मणों में ठनी आ रही थी। इस संघर्ष का सूत्रपात न जाने राजसत्ता के लिए अपनी कशमकश से हुआ अथवा ब्राह्मणों की चातुरी के चंगुल में फंसे क्षत्रियों ने विद्रोह कर दिया (जिन्हें गर्भाधान संस्कार से लेकर नवजात शिशु के जन्म, छठी, ग्यारहवीं, मुंडन, यज्ञोपवीत, सगाई, विवाह, मरण, चौथे, तेरहवीं, और उसके बाद हर वर्ष श्राद्धों पर ब्राह्मणों का घर भरना पड़ता था।) जो भी हो, इसी प्रतिद्वंद्विता के कारण शायद विश्वामित्र को, क्षत्री होते हुए भी, ब्रह्मर्षि कहलाने की सूझी...। यह प्रतिद्वंद्विता जालंधर के इसी कुल्लोवानी मुहल्ले में इस परिभ्रष्टावस्था को पहुंच गयी कि क्षत्री (जो अब खत्री कहलाते और रणक्षेत्र के बदले व्यापार क्षेत्र में तीर चलाते थे) ब्राह्मणों को (जो 'ब्राह्मण' रह गये थे और ज्ञानदान के बदले केवल दान दक्षिणा लेते थे) 'ब्राह्मण कुत्ते' कहते थे और ब्राह्मण क्षत्रियों को चोर और बेईमान। दोनों ने एक दूसरे के बारे में बड़ी टुच्ची लोकोक्तियां बना रखी थीं। जो ब्राह्मण पर लिख गये थे उन्होंने दान दक्षिणा लेना छोड़ दिया था और खत्रियों ने जन्माष्टमी आदि त्योहारों पर ब्राह्मण कन्याओं और कुमारों को भोजन पर बुलाने के बदले खत्री कन्याओं और कुमारों को भोजन पर बुलाना शुरू कर दिया था।" यह सुदीर्घ विवरण यह स्पष्ट करता है कि किस प्रकार अशक सामाजिक बदलावों पर पैनी और सूक्ष्म दृष्टि रखे हुए हैं। इस उपन्यास लड़ी में जिस रूप में अशक ने पंजाबी लोकगीतों और पंजाब के प्रसिद्ध प्रेमकाव्य 'हीर' (वारिश शाह) की लड़ियों को पिरोया है, वह कथा को उस धरती की सौंधी सुगंध से सरसा देता है। देवेन्द्र सत्यार्थी के बाद अशक जी अपने उपन्यासों में इस प्रकार लोकगीतों की थाती को सुरक्षित रख पाये हैं। इन सबके बावजूद आज चेतन की जिन्दगी को इतने विस्तारों में जाकर पढ़ने का समय और संवेदन पाठक के पास नहीं है, इसी बिन्दु पर ये उपन्यास समयबाह्य (आउट डेटिड) हो जाते हैं। न ही नायक न कथा स्थितियां समाज और युग की किसी बड़ी समस्या से टकराती हैं, यहीं अशक प्रेमचंद के बाद आकर भी उनसे पिछड़ जाते हैं।

गद्य में अशक का सबसे बड़ा दाय कहानी के क्षेत्र में है, वे अपनी यादगार कहानियों, जिनमें अधिसंख्य उनकी कहानी यात्रा के प्रारम्भिक पड़ाव की कहानियां हैं, जिनमें 'डाची', 'काकड़ां का तेली', 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं के द्वारा हिन्दी कहानी के इतिहास में अपनी स्थायी जगह बनाते हैं। बाद के समय में 'पलंग' उनकी बहुत बारीक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक मुश्किल कहानी है। 'चारा काटने की मशीन' भारत पाक विभाजन की त्रासदी का एक बिल्कुल नया पक्ष (यद्यपि पूर्णतः अजाना नहीं) प्रस्तुत करती हुई हिन्दी में अकेली ही कहानी है। ऐसी यादगार और शिल्प ढली कहानियां अशक के कहानी साहित्य में बहुत ज्यादा नहीं हैं। मेरा मानना है कि किसी भी रचनाकार का मूल्यांकन उसके श्रेष्ठ के आधार पर ही होना चाहिए। भर्ती की चीजें कमोवेश मात्रा में प्रायः सभी साहित्यकारों के यहां प्राप्त होती हैं किन्तु 'अशक' और यशपाल के यहां इसका बहुत बड़ा कारण अपनी प्रकाशन संस्था का होना है— उसका चक्का चलते रहने की विवशता में मांग के अनुरूप भी साहित्य रचना हुई है, ऐसा मेरा सोचना है, पता नहीं मैं कितना सही हूं। तो बात अशक की सशक्त कहानियों की।

'डाची' और 'काकड़ां का तेली' क्लासिक श्रेणी की कहानियां हैं, मुझे याद नहीं कि मैंने बी.ए. के पाठ्यक्रम से लेकर अब तक ये कहानियां कितनी बार पढ़ी हैं और हर बार वही रस देती हुई ये अपनी कला का कोई नया ही पक्ष उजागर कर देती हैं। स्वातंत्र्य पूर्व के समय में रची गयी ये कहानियां मुनष्य की आर्थिक बेबसी का वृत्तांत रचती हुई मानवीय भावनाओं का अत्यंत सूक्ष्म और मार्मिक अंकन कर गरीब की हसरतों के मरने और जबर द्वारा शोषण करने की (यह पक्ष केवल 'डाची' का है) कथा कहती हैं। इन कहानियों में लेखक की अपनी कथाभूमि के परिवेश पर जो अद्भुत पकड़

है, वह उसे जो आंचलिक रंग देती है, वह महज 'आंचलिकता' की रूढ़ परिभाषा में नहीं आता, वह ग्राम और समाज चित्रण की एक नयी लीक डालता है। कथ्य के अनुरूप भाषा भी यहां अपनी नयी धज में है। उर्दू और पंजाबी का लोकरंग यहां भाषा को जो रंगत देता है, अशक का उस पर गर्व एक हद तक सही है। भाषा की बात बाद में, पर चलते चलते डाची (सांडनी ऊंटनी) को देख कर बाकर के इस छोटे से वाक्य को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं हो पा रहा है, 'देख कर आंखों की भूख मिटती है।' बहावलपुर (अब पाकिस्तान में) क्षेत्र के जनजीवन में पल्लवित यह कथानक वहां के जनजीवन और पात्रों के अंतरंग में पूर्ण तादात्म्य भाव के साथ प्रवेश करता है। अपनी पांच वर्षीय बेटी रजिया के साथ रहता विधुर मुसलमान जाट बाकर उसी के लिए जीता मरता और उसकी हर इच्छा पूरी करने के लिए जीतोड़ परिश्रम करता है। इसी बिटिया रजिया ने एक दिन उसके सामने सुंदर सी डाची लाने की इच्छा प्रकट कर दी किन्तु 'भोली भाली निरीह बालिका' को 'क्या मालूम कि वह एक साधनहीन मजदूर की बेटी है, जिसके लिए डाची खरीदना तो दूर रहा, डाची (की) कल्पना करना भी पाप है।' जीतोड़ करी मेहनत करता बाकर आठ दस आने की मजदूरी करता हुआ जब किसी तरह एक सौ पचास रुपया जोड़ लेता है तो 'काट पी सिकंदर' (छोटे से गांव) के पशु मेले से किसी प्रकार सौदा पटा कर डाची ले लेता है। डाची लेकर वह 'आह्लाद के पंखों पर उड़ने लगता है।' बेटी को उस पर सवार देखने की तमन्ना में वह उछाह से पागल है, बेटी सांडनी की नंगी पीठ पर कैसे बैठ पायेगी, इसलिए मेले में जाने से पहले ही वह एक गद्दका (पलान काठी सी) बनने के लिए दे गया था। उसे लेने आने पर जब उसे मालूम हुआ कि वह तैयार नहीं है तो वह काट के मशीर माल (रईस) के यहां गदरा मांगने पहुंच जाता है। मशीर माल की स्वयं इस ऊंटनी पर तबियत आ जाती है। वह उसे कम दामों की 140 रु. (सात बीसी) की खरीदी बताता है, मशीर माल जबरदस्ती उसे 165 रु. में खरीद लेता है, खरीदता क्या है, अपने 'जबर' से उसे हथिया लेता है— बाकर के उत्तर की कोई प्रतीक्षा नहीं, सीधे उसे अपने यहां बांधने का आदेश दे देता है। भैंसों के लिए पट्टे (चारा) कतर रहे नौकर को मशीर माल आदेश देता है 'यह डाची ले जाकर बांध दो। 165 में, कही कैसे है?' बाकर की विसात कहां कि काट (गांव) के इस रईस को 'ना' कह दे। सर्वस्व सा डाची के रूप में गंवा कर बाकर जिन कदमों घर लौटता है, कहानी का अंत करते हुए लेखक उसका परिचय इस कलात्मक रूप में देता है : *"जानता था रजिया जागती होगी, उसकी प्रतीक्षा कर रही होगी। वह इंतजार में था कि दिया बुझ जाय, रजिया सो जाय तो वह चुपचाप अपने घर में दाखिल हो।"* कहानी जितने प्रामाणिक रूप में सूक्ष्मता के साथ अपने शैल्पिक लाघव में छोटे छोटे गांवों— काट पी सिकंदर, (पुरवों) आदि का— उसके बाशिन्दों का, उनकी परम्पराओं, रीति रिवाजों और रहन सहन का चित्रण करती है, उसमें अशक की कहानी कला का चरम निखार मिलता है। कथन के प्रमाणस्वरूप कहानी का प्रारम्भिक अनुच्छेद उद्धृत किया जा सकता है, *"काट पी सिकंदर के मुसलमान जाट बाकर को अपने माल की ओर लालच भरी निगाहों से तकते देख कर चौधरी नंदू वृक्ष की छांह में बैठे बैठे अपनी ऊंची घरघराती आवाज में ललकार उठा, 'रे रे अटे के करे है?' और उसकी छह फुटी लम्बी सुगठित देह, जो वृक्ष के तने के साथ आराम कर रही थी, तन गयी और बटन टूटे होने के कारण, मोटी खादी के कुर्ते से उसका विशाल वक्षस्थल और उसकी बलिष्ठ भुजाएं दृष्टिगोचर हो उठीं।"*

'काकड़ां का तेली' इसी प्रकार बहुत कौशल से मौलू तेली की आर्थिक विवशताओं, निरुपायताओं का चित्रण कर गरीबी में पल रही बड़ी संख्या की ग्रामीण जनता का वृत्तांत रचती है। उनकी सामाजिक स्थिति, पारिवारिक संरचना और पारस्परिक सम्बंधों का चित्रण यहां जिस रूप में किया गया है, समाज में वे सब स्थितियां आज भी उसी रूप में विद्यमान हैं, मात्रात्मक अंतर हो सकता है किन्तु मूल स्थितियां जस की तस बनी हुई हैं। शहर गये छोटे भाई का आर्थिक स्तर कुछ सुधर जाना और उसकी अपनों से अलग एक श्रेणी बन जाना, आज भी उसी तरह चला आ रहा है। इसी भाई के

लड़के के ब्याह में जाने के लिए मौलू तेली अपने परिवार के साथ धूल भरे ऊबड़खाबड़ कच्चे रास्ते पर चल पड़ता है। लस्तमपस्तम वे सब चले जा रहे हैं और कुछ दूर जाकर तांगे वाले से अटारी तक जाने का किराया पूछते हैं, 'अढ़ाई रुपये' सुनते ही उनकी बोलती बंद हो जाती है। उसकी पत्नी बीवां यह तखमीना लगाती भीचक है कि इससे परिवार के क्या क्या काम सध सकते हैं, "अढ़ाई रुपये। इतने से तो पंद्रह दिन का खर्च चल सकता है, अगर नहीं तो फज्जे की दो कमीजें या मेरे नन्हें चिराग की कई कुर्तियां बन सकती हैं।" रास्ते में मुसीबत उठाते इस परिवार की बेबसी और तकलीफ का जिस रूप में साक्षात्कार कराया गया है, वह सब बहुत मार्मिक बन पड़ा है। गर्मी में तपती दोपहर में बच्चों का चलना, छोटे दो बच्चों का बुखार में पिण्डा तपना, सूखी छालियां बार बार छोटे के मुंह में देकर बीवां का घिसटना और सबसे ऊपर लहरां की जूती में उभरती कील का पांव में घाव बना देना— अद्भुत संवेदन से ये दृश्य कहानी में उक्रे गये हैं। लहरां की जूती की मेख से बने घाव का बार बार दुखना दिखला कर कहानीकार इसे एक कथायुक्ति के रूप में प्रयुक्त करता है। जैसे ही कथा में परिवार की पीड़ा को कुछ हल्की राहत सी मिलती है लेखक लहरां की इस तकलीफ की मेख को पाठकीय चेतना में फिर फिर खुभा सा देता है। बार बार लहरां की यह कील इन पात्रों की पीड़ा को और घनीभूत रूप में सामने ला देती है, इस यात्रा का केवल एक दृश्य उस पीड़ा का साक्षात्कार करा देने में सक्षम है, "... और शायद इस बरसती हुई आग में भी वह स्वप्न देखती चली जा रही थी— उसकी उंगली थामे फज्जा चल रहा था, जिसे कभी वह उठा लेती थी और कभी कमर, कंधा या बांह थक जाने पर फिर उतार देती थी— फूल सा चेहरा उसका कुम्हला गया था, आंठ सूख गये थे, गंदे मैले हाथों से बार बार मुंह का पसीना पोंछने के कारण उसके चेहरे पर कई दाग लग गये थे और चाल उसकी उत्तरोत्तर धीमी होती जा रही थी। और इन सबके पीछे पूर्ववत् कभी जूता पहनती और कभी जूता उतारती लहरां लंगड़ाती लंगड़ाती चली जा रही थी।" उस जमाने की स्थिति बयान करती कहानी, जिसमें परिवार के लिए तांगे की यात्रा कर पाने के लिए एक रुपया भी न जुट पाता है, अपना समापन इस रूप में करती है कि अपने गांव लौटते नवाब तांगे वाले के साथ मौलू अपने मुसीबतजदा परिवार को वापिस भेज अकेला ही भाई के लड़के के ब्याह में जाने का निर्णय लेता है। गरीबी में इन्सान की बेबसी की बड़ी बेजोड़ कहानी बन जाती है 'काकड़ां का तेली'। अभी इस लेख की परिसीमा में दोनों कहानियों का मर्म पूरी तरह खुल नहीं पाया है, विस्तार में फिर कभी, अभी यही कहना है कि अशक के कहानी साहित्य ही नहीं उनके पूरे साहित्य में इन कहानियों का विशिष्ट स्थान है। 'पलंग' बहुत मनोवैज्ञानिक रूप में उस पुत्र की मनःस्थिति को व्यक्त करती है जिसे सुहागसेज के रूप में वही पलंग मिला है जो उसकी मां का है। कथानायक केशी को लगता है कि वह मां पापा की इस सेज पर कैसे लेट सकता है, यहां तो वह बचपन में मां के साथ लेटा करता था। उसकी दुल्हन जब प्रेमक्रीड़ा में संलिप्त होना चाहती है, तभी उसे अपनी मां को चेहरा दिखायी देने लगता है, रात इसी शशोपंज में निकली जा रही है, तब केशी को बराबर के कमरे का ध्यान आ जाता है जहां उसके ब्याह के दहेज के सामान का अम्बार लगा हुआ है, उसी सामान में दहेज में आया पलंग है। चांदनी रात में बाहर घूम कर आने के बाद केशी शीशा तोड़ कर इस कमरे की चिटखनी खोल कर जब पत्नी के साथ इस पलंग पर आता है तभी सुहागरात सम्पन्न हो पाती है। केशी के मनोभावों के सूक्ष्म चित्रण में अशक के कथाकार ने बहुत कौशल दिखाया है। 'चारा काटने की मशीन' विभाजन के समय हो रही मारकाट का परिचय संक्षिप्त रूप में देती है। लोग अपनी अपनी बस्तियों को छोड़ रहे थे और उनके घरों पर जिसका भी दांव लगे अपना कब्जा पक्का कर लेने की आपाधापी मची हुई थी, लेखक इस्लामाबाद की नयी आबादी में सरदार लहना सिंह के माध्यम से इन स्थितियों को चित्रित करता है किन्तु विद्रूप यह है कि जिस मकान पर लहना सिंह कब्जा करता है, थोड़ी देर बाद उससे भी ज्यादा जबर सरदार उस पर कब्जा कर लहना सिंह का सामान बाहर फेंक देते हैं और बड़ी बेचारगी और शर्मिन्दगी में वह बैलगाड़ी पर

अपनी चारा काटने की मशीन लाद कर चल पड़ता है। कहानी का अंतर्निहित पाठ यह भी सम्प्रेषित कर सका है कि जो दूसरों के लिए अमानवीय व्यवहार की खाई खोदते हैं, कभी कभी उन्हें स्वयं ही उस खाई में गिरना पड़ जाता है। बेशक ये कहानियां हिन्दी कहानी का गौरव है।

अशक ने संस्मरण भी लिखे हैं और वे अपने संस्मरणों को बहुत महत्व भी देते थे, 'मंटो: मेरा दुश्मन' उनकी बहुचर्चित कृति है। किन्तु आज इतना समय बीतने पर इन संस्मरणों का मूल्यांकन किया जाये तो उनसे कुछ जानकारियां भले ही मिल जायें पर ये संस्मरण अंततः निराश ही करते हैं। 'मंटो : मेरा दुश्मन' हो या यशपाल, निराला पर केन्द्रित संस्मरण हों या अज्ञेय पर संस्मरणात्मक टिप्पणियां इन संस्मरणों में अशक अपने को बहुत 'सुखरू' दिखाने और दूसरे को नीचा दिखाने या निम्नकोटि में रखने का निरर्थक प्रयत्न करते हैं। कथन की संपुष्टि में मंटो विषयक ये कथन उद्धरणीय हैं— *"दिल्ली से अचानक मंटो गायब हो गया तो मैं हैरान रह गया था। यद्यपि यह अफवाह उड़ी थी कि उसे फिल्म कम्पनी में नौकरी मिल गयी है, लेकिन उसने दो साल बाद मुझे बताया कि वह किसी नौकरी के बिना दिल्ली चला आया था— बाजू की गली से अगला रास्ता न मिलने पर— बिल्कुल वैसे ही, जैसे कुछ वर्ष बाद बम्बई छोड़ गया।"*

ऐसे कितने ही प्रसंग यहां आये हैं जब अशक मंटो को बहुत श्याम रंग में चित्रित करते हैं किन्तु पाठक पर इनका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, परिणामतः यह संस्मरण न मंटो के कद को घटा पाता है और न अशक के कद को बढ़ा पाता है। हां, यह कोफ्त अवश्य अपने पाठक को दे जाता है कि लेखक क्यों 'सार्वजनिक रूप में अपनी गंदगी धो रहा है (वाशिंग डर्टी लिनियंस इन पब्लिक)। निराला जैसे भव्य विराट व्यक्तित्व के विषय में अशक का यह निष्कर्ष है कि कुल तीन भेटों में *'मुझे चाहे तीनों बार उनसे मिल कर किन्चित्त विकर्षण हुआ, पर उन्हें समझने के सूत्र भी हाथ लगे।'* अज्ञेय का उल्लेख भी जहां कहीं वे करते हैं, इसी 'विकर्षण' भाव से करते हैं। भूल जाते हैं कि अज्ञेय जैसी प्रतिभा को उनके वैचारिक विरोधियों ने भी पूर्ण मन से स्वीकारा था। प्रगतिशील विचारों के हामी कमलेश्वर ने उनके निधन पर कहा था *'अज्ञेय हिन्दी की अजंता थे'*। उसके विपरीत अशक उन्हें कवि न मान कर पत्रकार ही मानते हैं। थोड़ा बख्खते वे यशपाल को हैं किन्तु जब भी कहीं जरा सी भी गुंजाइश मिलती है वे उन पर भी वार करते हैं। कभी उनकी विनोद वृत्ति को लेकर तो कभी उनकी स्नॉबरी को लेकर उन्होंने खूब छींटाकशी की है, अपनी उसी प्रिय शैली में कि वे जिस पर लिख रहे हों, उसका व्यक्तित्व अवमूल्यित हो। यह दीगर बात है कि इसमें उन्हें सफलता नहीं मिल पाती, उल्टे अशक के प्रति एक विकर्षण भाव उपजता है। यशपाल के विषय में यह संक्षिप्त सी टिप्पणी इस दृष्टि से विचारणीय है : *"लेकिन इस सब अहं और स्नॉबरी के बावजूद वे इतने बड़े तमाशाई हैं, इसे वे ही लोग जान सकते हैं, जिन्होंने उनके मुंह से यह सुना हो कि उन्होंने मिश्र बंधुओं को कैसे अपनी कहानी सुनायी।"*

अशक के व्यक्तित्व का एक पक्ष उनके द्वारा लिखे गये पत्रों में भी व्यक्त होता है। वे दोस्तों और आत्मीयों के लिए कितने चिन्ताकुल हो सकते हैं, यह उनके सतवंत कौर (श्रीमती राजेन्द्र सिंह बेदी) (21.10.76) और रवीन्द्र कालिया (21.8.83) को लिखे गये पत्रों से पता चलता है। परेश को लिखे गये पत्र (7.11.74) से ज्ञात होता है कि वे अपनी कृति की कटु आलोचना से कितने विचलित होते हैं।

वस्तुतः उपेन्द्रनाथ 'अशक' के मूल्यांकन के समय बहुत सारे 'यदि' 'किन्तु' 'परंतुओं' का सहारा लेना पड़ता है किन्तु फिर भी बहुत सीमा तक लक्ष्मीकांत वर्मा के द्वारा अशक के 70वें जन्मोत्सव पर किये गये इस मूल्यांकन से सहमत हुआ जा सकता है : *"साहित्यकार के रूप में यह मानना पड़ेगा कि अशक अपने कठिनतम परिश्रम और कष्टसाध्य लेखन के बल पर खड़े हैं। मातृभाषा पंजाबी, लेखक उर्दू के, लेकिन जब हिन्दी में लिखने लगे तो उसी धूम से उन्होंने साहित्य सृजा, जिस धूमधाम से कोई प्रतिभासम्पन्न सृज सकता है। अशक का कहना है कि ये यूनिवर्सिटी के अध्यापक या तथाकथित आलोचक उनकी कृतियों का मूल्यांकन या विवेचन करें या न करें, हिन्दी में वे इतना लिख जायेंगे कि उनको बिना पढ़े हिन्दी का कोई भी इतिहास पूरा नहीं होगा। वस्तुतः बात भी सही है।"* 'विवादों के घेरे में' घिरा उनका व्यक्तित्व और कृतित्व हमारी धरोहर है।